श्रीजुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

सकाम धर्मसाधन

लौकिक-फल की इच्छाओं को लेकर जो धर्मसाधन किया जाता है उसे 'सकाम-धर्मसाधन' कहते हैं. और जो धर्म वैसी इच्छाओं को साथ में न लेकर मात्र आत्मीय कर्तव्य समझकर किया जाता है उसका नाम निष्काम-धर्मसाधन है. निष्काम-धर्मसाधन ही वास्तव में धर्मसाधन है और वही वास्तविक फल को फलता है. सकाम-धर्मसाधन धर्म को विकृत करता है, सदोष बनाता है और उससे यथेष्ट धर्मफल की प्राप्ति नहीं हो सकती. प्रत्युत उससे, अधर्म की और कभी-कभी घोर-पाप-फल की भी प्राप्ति होती है. जो लोग धर्म के वास्तविक स्वरूप और उसकी शक्ति से परिचित नहीं, जिनके अन्दर धैर्य नहीं, श्रद्धा नहीं, जो निर्बल हैं, कमजोर हैं, उतावले हैं और जिन्हें धर्म के फल पर पूरा विश्वास नहीं है, ऐसे लोग ही फलप्राप्ति में अपनी इच्छाओं की टाँगे अड़ा कर धर्म को अपना कार्य करने नहीं देते, उसे पंगु और बेकार बना देते हैं, और फिर यह कहते हुए नहीं लजाते कि धर्म-साधन से कुछ भी फल की प्राप्ति नहीं हुई है. ऐसे लोगों के समाधानार्थ—उन्हें उनकी भूल का परिज्ञान कराने के लिये ही यह निबंध लिखा जाता है, और इसमें आचार्य-वाक्यों के द्वारा ही विषय को स्पष्ट किया जाता है.

श्रीगुणभद्राचार्य अपने 'आत्मानुशासन' ग्रन्थ में लिखते हैं :

संकल्प्यं कल्पवृक्षस्य चिन्त्यं चिंतामणेरपि ।
असंकल्प्यमसंचिंत्यं फलं धर्मादवाप्यते ।

'फल के प्रदान में कल्पवृक्ष संकल्प की और चिन्तामणि चिन्ता की अपेक्षा रखता है—कल्पवृक्ष विना संकल्प किये और चिन्तामणि विना चिन्ता किये फल नहीं देता, परन्तु धर्म वैसी कोई अपेक्षा नहीं रखता—वह विना संकल्प किये और विना चिन्ता किये ही फल प्रदान करता है.'

जब कर्म स्वयं ही फल देता है और फल देने में कल्पवृक्ष तथा चिन्तामणि की शक्ति को भी परास्त करता है, तब फल-प्राप्ति के लिये इच्छाएं करके—निदान बांधकर—अपने आत्माको व्यर्थ ही संक्लेशित और आकुलित करने की क्या जरूरत है ? ऐसा करने से तो उलटे फल-प्राप्ति के मार्ग में काँटे बोये जाते हैं, क्योंकि इच्छा फल-प्राप्ति का साधन न होकर उसमें बाधक है.

इसमें संदेह नहीं कि धर्मसाधन से सब सुख प्राप्त होते हैं, परन्तु तभी तो जब धर्मसाधन में विवेक से काम लिया जाय. अन्यथा, क्रिया के—बाह्य धर्माचरण के—समान होने पर भी एक को बन्धफल, दूसरे को मोक्षफल अथवा एक को पुण्यफल और दूसरे को पापफल क्यों मिलता है ? देखिये, कर्मफल की इस विचित्रता के विषय में श्रीशुभचंद्राचार्य ज्ञानार्णव में क्या लिखते हैं :

यत्र बालश्चरत्यस्मिन्पथि तत्रैव पंडितः ।
बालः स्वमपि बध्नाति मुच्यते तत्त्ववित् ध्रुवं । ७२१ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस मार्ग पर अज्ञानी चलता है उसी पर ज्ञानी. दोनों का धर्माचरण समान होने पर भी, अज्ञानी अविवेक के कारण कर्म बांधता है और ज्ञानी विवेक द्वारा कर्म-बंधन से छूट जाता है.

ज्ञानार्णव के निम्न श्लोक में भी इसी बात को पुष्ट किया गया है :

वेष्टयत्यात्मनात्मानमाज्ञानी कर्मबन्धनः ।
विज्ञानी मोचयत्येव प्रबुद्धः समयान्तरे । ७१७ ।

इससे विवेकपूर्ण आचरण का कितना बड़ा माहात्म्य है उसे बतलाने की अधिक जरूरत नहीं रहती.

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने, अपने प्रवनचनसार के चारित्राधिकार में, इसी विवेक का—सम्यग्ज्ञान का—माहात्म्य वर्णन करते हुए बहुत स्पष्ट शब्दों में लिखा है :—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदी भवसयसहस्सकोडीहिं ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण । ३८ ।

अर्थात्—अज्ञानी—अविवेकी मनुष्य जिस अथवा जितने ज्ञानावरणादिरूप कर्मसमूह को शतसहस्त्रकोटि भवों में—करोड़ों जन्म लेकर-क्षय करता है उस अथवा उतने कर्मसमूह को ज्ञानी मनुष्य मन-वचन काय की क्रियाका निरोध कर अथवा उसे स्वाधीन कर स्वरूप में लीन हुआ उच्छ्वासमात्रमें—लीलामात्र में—नाश कर डालता है.

इस से अधिक विवेक का माहात्म्य और क्या हो सकता है ? यह विवेक ही चारित्र को 'सम्यक्चारित्र' बनाता है और संसारपरिभ्रमण एवं उसके दुःख-कष्टों से मुक्ति दिलाता है. विवेक के विना चारित्र मिथ्या चारित्र है, कोरा कायक्लेश है और वह संसार-परिभ्रमण तथा दुःख परंपरा का ही कारण है. इसी से विवेकपूर्वक अथवा सम्यग्ज्ञान के अनन्तर चारित्र का आराधन बतलाया गया है, जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्य के निम्न वाक्य से प्रकट है :

न हि सम्यग्व्यपदेशं चारित्रमज्ञानपूर्वकं लभते ।
ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात् । ३८ ।—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

अर्थात्—अज्ञान पूर्वक-विवेक को साथ में न लेकर—दूसरों की देखा-देखी अथवा कहने सुननेमात्र से, जो चारित्र का अनुष्ठान किया जाता है वह 'सम्यक् चारित्र' नाम नहीं पाता—उसे 'सम्यक् चारित्र' नहीं कहते. इसी से (आगम में) सम्यग्ज्ञान के अनन्तर—विवेक हो जाने पर—चारित्र के आराधन का—अनुष्ठान का—निर्देश किया गया है—रत्न-त्रयधर्म की आराधना में, जो मुक्ति का मार्ग है, चारित्र की आराधना का इसी क्रम से विधान किया गया है.

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार में, 'चारितं खलु धम्मो' इत्यादि वाक्य के द्वारा जिस चरित्र को—स्वरूपाचरण को—वस्तुस्वरूप होने के कारण धर्म बतलाया है वह भी यही विवेकपूर्वक सम्यक्चारित्र है, जिसका दूसरा नाम साम्यभाव है, और जो मोह क्षोभ अथवा मिथ्यात्व-रागद्वेष तथा काम-कोधादिरूप विभाव-परिणति से रहित आत्मा का निज परिणाम होता है.[1]

वास्तव में यह विवेक ही उस भाव का जनक होता है जो धर्माचरण का प्राण कहा गया है. विना भावके तो क्रियाएं फलदायक होती ही नहीं है. कहा भी है :

यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः[2] ।

तदनुरूप भाव के विना पूजनादिक की, तप-दान जपादिक की और यहाँ तक कि दीक्षाग्रहणादिक की सब क्रियाएँ भी ऐसी ही निरर्थक हैं जैसे कि बकरी के गले के स्तन (थन), अर्थात् जिस प्रकार बकरी के गले में लटकते हुए स्तन देखने में

---

१. चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोह-क्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो । ७ ।

२. देखो कल्याण मंदिर स्तोत्र का 'आकर्णितोऽपि' आदि पद्य.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्तनाकार होते हैं परन्तु वे स्तनों का कुछ भी काम नहीं देते—उनसे दूध नहीं निकलता—उसी प्रकार विना तदनुकूल भाव के पूजा, तप, दान, जपादिक सब क्रियाएं भी देखने की ही क्रियाएं होती हैं, पूजादिक का वास्तविक बल उनसे कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता.[1]

ज्ञानी-विवेकी मनुष्य ही यह ठीक जानता है कि किन भावों से पुण्य बंधता है—किन से पाप और किन से दोनों का बन्ध नहीं होता स्वच्छ, शुभ शुद्ध भाव किसे कहते हैं ? और अस्वच्छ, अशुभ. अशुद्ध भाव किस का नाम है ? सांसारिक विषयसुख की तृष्णा अथवा तीव्र कषाय के वशीभूत होकर जो पुण्य कर्म करना चाहता है वह वास्तव में पुण्य कर्म का सम्पादन कर सकता है या कि नहीं और ऐसी इच्छा धर्म की साधक है या बाधक—वह खूब समझता है कि सकाम-धर्म साधन मोहक्षोभादि से घिरा होने के कारण धर्म की कोटि से निकल जाता है, धर्म वस्तुका स्वभाव होता है. और इसलिए कोई विभाव परिणति धर्म का स्थान नहीं ले सकती. इसी से वह अपनी धार्मिक क्रियाओं में तद्रूपभाव की योजना द्वारा प्राण का संचार कर के उन्हें सार्थक और सफल बनाता है. ऐसे ही विवेकी जनों के द्वारा अनुष्ठित धर्म को सब सुख का कारण बताया है. विवेक की पुट विना अथवा उसके सहयोग के अभाव में मात्र कुछ क्रियाओं के अनुष्ठान का नाम ही धर्म नहीं है, ऐसी क्रियाएं तो जड़-मशीनें भी कर सकती हैं और कुछ करती हुई देखी भी जाती हैं. फोनोग्राफ के कितने ही रिकार्ड खूब भक्ति-रस के भरे हुए गान तथा भजन गाते हैं और शास्त्र पढ़ते हुए भी देखने में आते हैं. और भी जड़ मशीनों से आप जो चाहें धर्म की बाह्य क्रियाएं करा सकते हैं. इन सब क्रियाओं को करके जड़ मशीनें जिस प्रकार धर्मात्मा नहीं बन सकतीं और न धर्म के फल को ही पा सकती हैं, उसी प्रकार अविवेकपूर्वक अथवा सम्यग्ज्ञान के विना धर्म की कुछ क्रियाएं कर लेने मात्र से ही कोई धर्मात्मा नहीं बन जाता और न धर्म के फल को ही पा सकता है. ऐसे अविवेकी मनुष्यों और जड़ मशीनों में कोई विशेष अंतर नहीं होता—उनकी क्रियाओं को सम्यक्चारित्र न कह कर 'यांत्रिक चारित्र' कहना चाहिए. हां, जड़ मशीनों की अपेक्षा ऐसे मनुष्यों में मिथ्याज्ञान तथा मोह की विशेषता होने के कारण वे उसके द्वारा पाप बन्ध करके अपना अहित जरूर कर लेते हैं—जब कि जड़ मशीनें वैसा नहीं कर सकतीं. इसी यांत्रिक चारित्र के भुलावे में पड़कर हम अक्सर भूले रहते हैं और यह समझते रहते हैं कि हमने धर्म का अनुष्ठान कर लिया ! इसी तरह करोड़ों जन्म निकल जाते हैं और करोड़ों वर्ष की बालतपस्या से भी उन कर्मों का नाश नहीं हो पाता, जिन्हें एक ज्ञानी पुरुष त्रियोग के संसाधनपूर्वक क्षणमात्र में नाश कर डालता है.

इस विषय में स्वामी कार्तिकेय ने अपने 'अनुप्रेक्षा' ग्रंथ में, अच्छा प्रकाश डाला है. उनके निम्नवाक्य खास तौर से ध्यान देने योग्य हैं :

कम्मं पुण्णं पावं हेऊ-तेसिं च होंति सच्छिदरा ।
मंदकसाया सच्छा तिव्वकसाया असच्छा हु ।
जीवो वि हवइ पावं अइतिव्वकसायपरिणदो णिच्चं ।
जीवो हवेइ पुण्णं उवसमभावेण संजुत्तो ।
जो अहिलसेदि पुण्णं सकसाओ विसयसोक्खतण्हाए ।
दूरे तस्स विसोही विसोहिमूलाणि पुण्णाणि ।
पुण्णासएण पुण्णे जहो णिरीहस्स पुण्णसंपत्ती ।
इय जाणिऊण जइणो पुण्णे वि य आयरं कुणह ॥
पुण्णं बंधदि जीवो मंदकसाएहिं परिणदो संतो ।
तम्हा मंदकसाया हेऊ पुण्णस्स ण हि वंछा ॥ गाथा ९०, १९०, ४१०-४१२.

---

१. भाव-हिनस्य पूजादि-तपोदान-जपादिकम् ।
व्यर्थदीक्षादिकं च स्यादजाकंठे रतनाविव ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन गाथाओं में बतलाया गया है कि—'पुण्य कर्म का हेतु स्वच्छ (शुभ) परिणाम है और पाप कर्म का हेतु अस्वच्छ (अशुभ या अशुद्ध) परिणाम. मंदकषायरूप परिणामों को 'स्वच्छपरिणाम' और तीव्र कषाय रूप परिणामों को 'अस्वच्छ परिणाम' कहते हैं. जो जीव अति तीव्र-कषायपरिणाम से परिणत होता है, वह पापी होता है और जो उपशम भाव से कषाय की मंदता से—युक्त रहता है वह पुण्यात्मा कहलाता है. जो जीव कषाय भाव से युक्त हुआ विषय-सौख्य की तृष्णा से— इन्द्रिय विषय को अधिकाधिक रूप में प्राप्त करने की इच्छा से—पुण्य करना चाहता है—पुण्यक्रियाओं के करने में प्रवृत्त होता है—उससे विशुद्धि बहुत दूर रहती है और पुण्य कर्म विशुद्धि-मूलक-चित्त की शुद्धि पर आधार रखने वाले होते हैं .अतः उनके द्वारा पुण्य का संपादन नहीं हो सकता—वे अपनी उन धर्मके नाम से अभिहित होनेवाली क्रियाओं को करके पुण्य पैदा नहीं कर सकते. चूंकि पुण्यफलकी इच्छा रखकर धर्म क्रियाओं के करने से—सकाम-धर्म-साधन से—पुण्य की संप्राप्ति नहीं होती, बल्कि निष्काम रूपसे धर्म साधन करने वाले को ही पुण्य की संप्राप्ति होती है, ऐसा जान कर पुण्य में भी आसक्ति नहीं रखना चाहिए. वास्तव में जो जीव मन्दकषाय से परिणत होता है वही पुण्य बांधता है. इसलिए मंदकषाय ही पुण्य का हेतु है, विषयवांछा पुण्य का हेतु नहीं—विषयवांछा अथवा विषयाशक्ति तीव्र कषाय का लक्षण है और उसका करने वाला पुण्य से हाथ धो बैठता है.

इन वाक्यों से स्पष्ट है कि जो मनुष्य धर्म-साधना के द्वारा अपने विषयकषायों की पुष्टि एवं पूर्ति चाहता है, उसकी कषाय मन्द नहीं होती और न वह धर्म के मार्ग पर ही स्थिर होता है. इसलिए उसके द्वारा वीतराग भगवान् की पूजा-भक्ति-उपासना तथा स्तुतिपाठ, जप-ध्यान, सामायिक, स्वाध्याय, तप, दान और व्रत-उपवासादिरूप से जो भी धार्मिक क्रियाएँ बनती हैं—वे सब उसके आत्मकल्याण के लिये नहीं होती—उन्हें एक प्रकार की सांसारिक दुकानदारी ही समझना चाहिए. ऐसे लोग धार्मिक क्रियाएं करके भी पाप उपार्जन करते हैं और सुख के स्थान में उलटा दुख को निमंत्रण देते हैं. ऐसे लोगों की इस परिणति को श्रीशुभचद्राचार्य ने ज्ञानार्णव ग्रंथ के २५ वें प्रकरण में, निदान-जनित आर्त्त-ध्यान लिखा है और उसे घोर दुःखों का कारण बतलाया है. यथा :

पुण्यानुष्ठानजातैरभिलषति पदं यज्जिनेन्द्रामराणां ,
यद्वा तैरेव वाञ्छत्यहितकुलकुजच्छेदमत्यन्तकोपात् ।
पूजा-सत्कार-लाभ-प्रभृतिकमथवा याचते यद्विकल्पैः ,
स्यादार्तं तन्निदानप्रभवमिह नृणां दुःखदावोऽग्रधाम ।

अर्थात—अनेक प्रकार के पुण्यानुष्ठानों को—धर्म कृत्यों को—करके जो मनुष्य तीर्थंकर पद तथा दूसरे देवों के किसी पद की इच्छा करता है अथवा कुपित हुआ उन्हीं पुण्याचरणों के द्वारा शत्रुकुल रूपी वृक्षों के उच्छेद की वांछा करता है, अथवा अनेक विकल्पों के साथ उन धर्मकृत्यों को करके अपनी लौकिक पूजा-प्रतिष्ठा अथवा लाभादिक की याचना करता है, उसकी यह सब सकाम प्रवृत्ति 'निदानज' नामका आर्त्तध्यान है. ऐसा आर्त्तध्यान मनुष्य के लिये दुःख-दावानल का अग्रस्थान होता है. उससे महादुःखों की परम्परा चलती है.

वास्तव में आर्त्तध्यान का जन्म ही संक्लेश-परिणामों से होता है, जो पापबंध के कारण हैं. ज्ञानार्णव के उक्त प्रकरणान्तर्गत निम्न श्लोक में भी आर्त्तध्यान को कृष्ण-नील-कापोत ऐसी तीन अशुभ लेश्याओं के बल पर ही प्रकट होना लिखा है और साथ ही यह सूचित किया है कि आर्त्तध्यान पाप रूपीदावानल को प्रज्वलित करने के लिये ईंधन के समान है :

कृष्णनीलाद्यसल्लेश्याबलेन प्रविजृम्भते, इदं दुरितदावार्चिःप्रसूतेरिन्धनोपमम् । ४० ।

इससे स्पष्ट है कि लौकिक फलों की इच्छा रखकर धर्म साधन करना धर्माचरण को दूषित और निष्फल नहीं बनाता, बल्कि उलटा पापबंध का भी कारण होता है, और इसलिए हमें इस विषय में बहुत ही सावधानी रखने की जरूरत है. सम्यक्त्व के आठ अंगों में निःकांक्षित नाम का भी एक अंग है, जिसका वर्णन करते हुए श्रीअमितगति आचार्य उपासकाचार के तीसरे परिच्छेद में स्पष्ट लिखते हैं :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विधीयमानाः शम-शील संयमाः श्रियं ममेमे वितरन्तु चिन्तिताम् ,
सांसारिकानेकसुखप्रवर्द्धितीं निष्कांक्षितो नेति करोति कांक्षाम् । ७४।

अर्थात्—निःकांक्षित अंग का धारक सम्यग्दृष्टि इस प्रकार की वांछा नहीं करता है कि मैंने जो शम-शील और संयम का अनुष्ठान किया है वह सब धर्माचरण मुझे उस मनोवांच्छित लक्ष्मी को प्रदान करे, जो नाना प्रकार के सांसारिक सुखों में वृद्धि करने के लिये समर्थ होती है—ऐसी वांछा करने से उसका सम्यक्त्व दूषित होता है.

इसी निःकांक्षित सम्यग्दृष्टिका स्वरूप श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने 'समयसार' में इस प्रकार दिया है :

जो ण करेदि दुकंखं कम्मफले तह य सव्वधम्मेसु ,
सो णिक्कंखो चेदा सम्मदिट्ठी मुणेयव्वो । २४८ ।

अर्थात् जो धर्म कर्म करके उसके फल की—इंद्रियविषय सुखादिक की इच्छा नहीं रखता है, यह नहीं चाहता है कि मेरे अमुक कर्म का मुझे अमुक लौकिक फल मिले—और न उस फल साधन की दृष्टि से नाना प्रकार के पुण्य रूप धर्मों को ही इष्ट करता है—अपनाता है—और इस तरह निष्कामरूप से धर्म साधन करता है, उसे निःकांक्षित सम्यग्दृष्टि समझना चाहिए.

यहां पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूं कि तत्त्वार्थ सूत्र में क्षमादि दश धर्मों के साथ में 'उत्तम' विशेषण लगाया गया है. उत्तम क्षमा उत्तम मार्दवादि रूप से दश धर्मों का निर्देश किया है. यह विशेषण क्यों बताया गया है ? इसे स्पष्ट करते हुए श्रीपूज्यपाद आचार्य अपनी 'सर्वार्थसिद्धि' टीका में लिखते हैं :

इष्टप्रयोजन-परिवर्जनार्थमुत्तमविशेषणम् ।

अर्थात्-लौकिक प्रयोजनों को टालने के लिये 'उत्तम' विशेषण का प्रयोग किया है. इससे यह विशेषण पद यहाँ 'सम्यक्' शब्द का प्रतिनिधि जान पड़ता है और उसकी उक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि किसी लौकिक प्रयोजन को लेकर–कोई दुनियावी गर्ज साधने के लिये–यदि क्षमा मार्दव-आर्जव-सत्य-शौच-संयम-तप-त्याग-आकिंचन्य-ब्रह्मचर्य, इन दश धर्मों में से किसी भी धर्म का अनुष्ठान किया जाता है तो वह अनुष्ठान धर्म की कोटि से निकल जाता है. ऐसे सकाम-धर्म साधन को वास्तव में धर्म-साधन ही नहीं कहते. धर्म-साधन तो स्वरूपसिद्धि अथवा आत्म-विकास के लिये आत्मीय कर्त्तव्य समझ कर किया जाता है, और इसलिए वह निष्काम धर्म साधन ही हो सकता है.

इस प्रकार सकाम-धर्म साधन के निषेध में आगम का स्पष्ट विधान और पूज्य आचार्यों की खुली आज्ञाएं होते हुए भी खेद है कि हम आजकल अधिकांश में सकाम धर्म साधन की ओर ही प्रवृत्त हो रहे हैं. हमारी पूजा-भक्ति-उपासना, स्तुति-वंदना-प्रार्थना, जप-तप-दान और संयमादिक का सारा लक्ष्य लौकिक फलों की प्राप्ति ही रहता है—कोई उसे करके धन-धान्य की वृद्धि चाहता है तो कोई पुत्र की संप्राप्ति. कोई रोग दूर करने की इच्छा रखता है, तो कोई शरीर में बल लाने की. कोई मुकदमे में विजय लाभ के लिये उसका अनुष्ठान करता है, तो कोई अपने शत्रु को परास्त करने के लिये. कोई उसके द्वारा किसी ऋद्धि-सिद्धि की साधना में व्यग्र है, तो कोई दूसरे लौकिक कार्यों को सफल बनाने की की धुन में मस्त. कोई इस लोक के सुखों को चाहता है तो कोई परलोक में स्वर्गादिकों के सुखों की अभिलाषा रखता है और कोई-कोई तो तृष्णा के वशीभूत होकर यहां तक अपने विवेक को खो बैठता है कि श्रीवीतराग भगवान् को भी रिश्वत (घूस) देने लगता है—उनसे कहने लगता है कि हे भगवन्, आपकी कृपा से यदि मेरा अमुक कार्य सिद्ध हो जायेगा तो मैं आपकी पूजा करूंगा, सिद्ध चक्र का पाठ थापूंगा, छत्र-चमरादि भेंट करूंगा, रथ-यात्रा निकलवाऊंगा, गजरथ चलवाऊंगा अथवा मन्दिर बनवा दूँगा. ये सब धर्म की विडम्बनाएं हैं. इस प्रकार की विडम्बनाओं से अपने को धर्म का कोई लाभ नहीं होता और न आत्मविकास ही सध सकता है. जो मनुष्य धर्म की रक्षा करता है—उसके विषय में विशेष सावधानी रखता हुआ उसे विडंबित या कलंकित नहीं होने देता—वही वास्तविक धर्म के फल को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाता है. 'धर्मो रक्षति रक्षितः' की नीति के अनुसार रक्षा किया हुआ धर्म ही उसकी रक्षा करता है—और उसके पूर्ण विकास को सिद्ध करता है.

ऐसी हालत में सकाम धर्मसाधन को हटाने और धर्म की विडम्बनाओं को मिटाने के लिये समाज में पूर्ण आन्दोलन होने की जरूरत है, तभी समाज विकसित तथा धर्म के मार्ग पर अग्रसर हो सकेगा, तभी उसकी धार्मिक पोल मिटेगी और तभी वह अपनी पूर्वगौरव-गरिमा को प्राप्त कर सकेगा. इसके लिये समाज के सदाचारनिष्ठ एवं धर्मपरायण विद्वानों को आगे आना चाहिए और ऐसे दूषित धर्माचरणों की युक्ति-पुरस्सर खरी-खरी आलोचना करके समाज को सजग तथा सावधान करते हुए उसे उसकी भूलों का परिज्ञान कराना चाहिए. यह इस समय उनका खास कर्त्तव्य है और बड़ा ही पुण्य कार्य है. ऐसे आन्दोलन द्वारा सन्मार्ग दिखलाने के लिये समाज के अनेक प्रमुख पत्रों को अपना-अपना—पवित्र कर्त्तव्य समझना चाहिए.

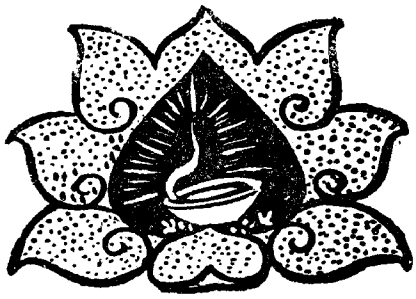

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org